अर्चना

भगवन्तशरण जौहरी

प्रकाशक—

सरस्वती प्रकाशन मन्दिर,

जार्ज टाउन, इलाहाबाद

प्रथमावृत्ति

मूल्य २)

संवत् १९९८ वि०

मुद्रक—

सुशीलचन्द्र वर्मा, बी० एस-सी०,

सरस्वती प्रेस,

जार्ज टाउन, इलाहाबाद

'अर्चना' के कवि

आत्मनिवेदन

'अर्चना' मे मेरी पूजा के फूल हैं अस्तव्यस्त, विकल, करुण एवं स्तब्ध। मेरी श्वासो की मूक साधना के जो उत्सुक क्षण यदा-कदा मुखरित हो उठे हैं, वे ही इन तुको के रूप मे बिखर पडे हैं।

आँसुओ से आर्द्र, जीवन-यात्रा के पथ-चिह्न, इन गीतो पर मेरी ममता है, और क्या कहूँ!

यही है मेरा आत्मनिवेदन।

दीपावली '९८ }
श्यामा कुटीर, } भगवन्त शरण जौहरी
उज्जैन }

प्रवेश

चिरजीवी प्रियवर श्री भगवन्तशरणजी बी० ए० विशारद की यह काव्य-पुस्तक जनता के सामने आ रही है। मुझसे उन्होंने कुछ लिख देने को कहा है। मैं क्या लिखूँ, क्या न लिखूँ ? भगवन्तशरण मेरे अनन्य बन्धु स्वर्गवासी श्री हरिशरण जी के छोटे भाई हैं, और हरिशरणजी मेरे वे बालमित्र थे जिनकी मधुर-मधुर स्मृति आज भी मुझे उन्मन कर देती है। जब मैं अलीगढ़-जेल में था तब छोटे—यही उनका घर का और प्यार का नाम था—मेरे स्मृति-मण्डल में सहसा आ गए, कई बरसों के बाद। और उस वक्त मैं ने तड़प कर जो कुछ कहा है वह इस प्रकार है :—

युवक हृदय की प्रथम प्यास सम, कहाँ विलीन हुए तुम प्रियवर ?
यह, इतनी विस्मृति अपनों की, कि तुम भुला बैठे अपना घर !

बीत गए ये बरस घनेरे,
कई-कई सौ साँझ-सबेरे,
सहसा आज चढ़े स्मृति-रथ पर,
लालन, तुम आये हिय मेरे;

आह ! समय यह इतना बीता; तब भी कँपता है हिय थर-थर !
कैसे करूँ दुलार, हठीले, अब जब तुम आये अपने घर ?

गमनागमन, मरण-जीवन यह, यह संयोग-वियोग निरन्तर!
वैभव, प्रलय, काल, गति बन्धन, प्राण-दान संहार भयंकर!

कौन कर रहा है क्रीड़ा यह,
कौन खेलता है यों रह-रह,
बिछुड़न, मिलन बनाकर किसने-
भर दी है जग में पीड़ा यह,

अँधाधुन्ध, प्रिय यह न कहूँगा, यदपि रिक्त है तुम बिन अन्तर!
कुछ है, क्या है, पता नहीं है, गति-मति शिथिल, शिथिल अभ्यन्तर!
वह प्रभात जीवन का जब हम, दो कुमार मिल, गलबहियाँ कर!
दाबे हुए बगल में बस्ता, घुसते थे शाला के भीतर!

कितना सुन्दर था प्रभात वह;
क्या मधुमय था संग-साथ वह;
रेखा-बीज-अंकगणितों की-
छोटे! थी क्या विकट बात वह;

आज तुम्हारे संग उठ आए, ये सब गत संस्मरण उभर कर!
ये गत जीवन की संस्मृतियाँ, हैं कितनी आकर्षक, हियहर!
बहुत सोचता हूँ, नर क्या है, है स्मृतियों का एक पुंज नर!
स्मृति भ्रंश से हो जाता है, क्षण भर में ही यह नर बानर!

आज संस्मरण-सुरा पिये मैं;
उलझे-सुलझे सूत्र लिये मैं;
करता हूँ, जीवन अवलोकन
तुम्हें बिठाये हुए हिये में,

कितना सुख होता यदि होते, तुम भी सँग इस जीवन-पथ पर!
हम दोनों दुख-सुख बटोरते; जीवन के सँग-सँग हँस-हँस कर!
जब से तुम बिछुडे हो तब से, बहुत हुआ जीवन में अन्तर!
उथल-पुथल हो गई भयंकर, हुईं क्रान्तियाँ हैं प्रलयङ्कर!

नव जीवन की लहरें आईं,
प्रबल आँधियाँ भी उठ धाईं,
बारी-बारी पडी दृगों में-
विजय-पराजय की परछाईं,

कई अदृष्टपूर्व घटनाएँ, देखी हैं इन आँखों भर-भर!
पर, प्रिय तव सुस्मृति से अब, भी कँप उठता है मानस-अम्बर!
हुआ बहुत कुछ परिवर्तित, इस पछी का शारीरिक पंजर!
अब कुछ ढलता सा लगता है, चढते यौवन का दिनकर खर!

जब तुम थे, तब से इस 'अब' में
घटित हो गया है महदन्तर,
मै ही क्या, तब से अब तक तो
बदल चुका है, सकल चराचर,

बडी गनीमत है जो सूखा नहीं भावना का यह निर्झर!
छोटे! इसकी वेकल कलकल, है तुमसों की स्मृति पर निर्भर!

अत. पाठक समझ सकते हैं कि चिरजीवी भगवन्त शरण मेरे बहुत निकट हैं। अतः इनकी कविताओं के सम्बन्ध में यदि मैं कुछ कहूँ भी तो वह शायद मेरे स्नेहातिरेक का नतीजा समझा जायगा।

मैं ने उनकी कविताएँ पढ़ी हैं। मुझे वे अच्छी लगती हैं। भगवन्त-शरणजी विदग्ध हैं, भाषा में समार्जन और सौष्ठव है; भावों में उठान है, कहने का ढग गँठा हुआ है।

मैं हृदय से चाहता हूँ कि भगवन्त शरणजी हिन्दी भाषा में अमर कृतियों की रचना कर सकें। इनका साहित्यिक भविष्य मुझे उज्ज्वल दिखलाई पड़ता है। भगवान उन्हे चिरायु करें।

—बालकृष्ण शर्म्मा "नवीन"

भूमिका

भावना की भूमि में कविता का पौधा फलता-फूलता है, हृदय के रस से इसका सिंचन होता है, कल्पना के कोमल करों से यह सँवारा जाता है, जीवन के सुख-दुख, मिलन-वियोग, हास-अश्रु ही इसके फल-फूल होते हैं। मेरे विचार से यही कविता का सीधा-सरल परिचय है। इस परिचय के प्रकाश में मेरे प्रिय मित्र भगवन्त शरण की इस कविता पुस्तक का अध्ययन प्रत्येक सहृदय को रुचिकर होगा—ऐसा मेरा विश्वास है।

अर्चना के कवि के मधुर गीत इस लोक के ही गीत हैं। वह किसी अज्ञात लोक में जाकर अपने काव्य-विषय की खोज नहीं करता। उसका प्रियतम, उसकी प्रिया, उसका पूजन, उसका अर्चन, उसका शिशिर, उसका वसन्त हमारे आस-पास ही कहीं बहुत निकट है। उसे काव्य-रचना के लिए अपने जीवन से ही अधिक सत्यता और प्रेरणा मिल जाती है। हमारे कवि की कविता का आधार पृथ्वी ही है पर कभी-कभी मिलन की उमग में कवि-कल्पना आकाश-गंगा में विहार भी कर लेती है तथा कभी-कभी विरह की मधु-वेदना भरी आशामय निराशा में वह मौन हो मौन तारकों से अपने प्रश्नों का उत्तर भी माँगा करती है।

कवि की अर्चना गीतों के रूप में प्रकट हुई है। गीति काव्य में आत्मानुभूति, व्यक्तित्व और संगीत का होना परमावश्यक है। आत्मानुभूति की महत्ता इसी में है कि कवि समस्त विश्व के प्रति अपना सत्य और वास्तविक रूप प्रकट कर दे। प्रेम इसके लिए सर्वव्यापी विषय है और इसीलिए अर्चना के गीत प्रेम-भावना प्रधान हैं जिनमें कि एक

विदग्ध हृदय का सच्चा मार्मिक चित्रण है। प्रेम के संयोग और वियोग-पक्ष की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाएँ कवि द्वारा पहिचानी गई हैं और इन भावनाओं को पूर्ण सत्यता के साथ प्रकट किया गया है यही कारण है कि इस कवि के गीत सीधे जाकर हमारे हृदय को छूते है। हम कवि के गीतों में अपनापन पाते हैं। वह हमारी ही भावनाओं से अवगत कराता है। हम अपने सुख-दुख को पहचानते हैं। हम चौंककर कह उठते हैं—ऐं ! ऐसा ही तो हम भी सोचते थे ! ऐसा ही तो हम ने भी कहा था ! यही तो आजकल हमारी भी दशा है ! हाँ, यही जीवन है, यही गति है, यही अगति है। कवि ! सब कुछ वैसा ही जैसा तुमने कहा—यही हमारे कवि की सफलता है जहाँ वह अपनी बात कहते हुए, सब की बात कह जाता है। जहाँ वह व्यष्टि में समष्टि की सृष्टि करता है।

भगवन्त के पद उनके भावावेश से प्रस्तुत हैं। वे उनके प्रेमोन्माद के स्पष्ट चित्र हैं जिनमें किसी प्रकार के रंग और तूलिका की सहायता नहीं ली गयी है। कवि ने आद्योपान्त अपने प्रतिपाद्य विषय का सचाई और सरलता से प्रतिपादन किया है। यह सचाई (Sincerity) काव्य का एक विशिष्ट गुण है जिसका निर्वाह अपनी रचनाओं में हिन्दी के कम कवि कर सके हैं। इन 'कम' कवियों में भगवन्त का स्थान निश्चित है अपने इस कथन के प्रमाण स्वरूप मैं कवि के गीतों से कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत कर रहा हूँ।

स्मृति के धुँधले प्रदेश में—

"उन नयनों का छल नयनों में मूर्ति बना कसका करता है।
वह दुलार लुक-छिप पलकों में फूट-फूट आहें भरता है।"

प्रिय के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण कर देने पर फिर अपना रह ही क्या जाता है। इसी भावना को भगवन्त ने कैसी सुन्दरता से व्यक्त किया है—

मैंने अपना ही क्या समझा,
जोकि दण्ड की आज्ञा दोगे;
अच्छा है; अपने प्रहार से,
अपनों को ही क्षत कर लोगे !

कवि का प्रेमी हृदय अपने प्रिय के मौन पर सम्भवतः खीझ उठा है। वह मौन संकोच का हो सकता है पर प्रेमी की सन्दिग्ध दृष्टि उसे सहसा प्यार का मधुर मौन कैसे समझ ले। वह समझते हुए भी नहीं समझना चाहता। उसे प्रेमी को कसौटी पर कसना ही प्रिय लगता है। प्रेम-पात्र के प्रेम के विषय में कभी-कभी शंका करने लगना, एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। इसीलिए कवि उस मौन को कुछ और ही समझते हुए कहता है—'पर वे क्यों रखते हैं दुराव ?' पर कुछ काल पश्चात् हृदय स्वयम् अपनी भूल समझता है। अकारणही पैदा की गयी अशान्ति और व्यथा का वह अपने आप निवारण करता है और तब वह 'दुराव', दुराव नहीं रह जाता और कवि हृदय 'पर वे क्यों रखते हैं दुराव ?' के स्थान में कहने लगता है—'आखिर मैं कब तक समझाऊँ अपनों से नहीं उचित व्रीड़ा। पहले जिसे दुराव समझा था वही प्रेम की 'व्रीड़ा' में बदल जाता है और प्यार का संकोच कोई अपराध नहीं इसीलिए प्रेम-पात्र पर सदा मधु की वर्षा होती रहे,

केवल यह उत्कंठा निशिदिन,
उनको न छुए दुख का कटु क्षण;
मुझ पर कितना ही विधि रूठे,
उस ओर सदा हो मधु-वर्षण !

इस प्रकार हृदय स्वयम् शंका करता है स्वयम् समझ जाता है और फिर स्वयम् ही अपने प्रिय की मंगल-कामना में लीन हो जाता है। भगवन्त ने इन गिनी-चुनी पंक्तियों में प्रेम के सूक्ष्म मनो वैज्ञानिक सत्यों

का कितनी सुन्दरता से प्रकाशन किया है ! मध्यभारत का यह किशोर-कलाकार अपने सुकुमार-सरल हृदय मे स्निग्धता-भावुकता का, न जाने कौन सा अक्षय भंडार छिपाये बैठा है !

भगवन्त की अनेक रचनाओं मे हमे भावनाओं के प्रवाह का तथा भाषा की शक्ति का साथ-साथ दर्शन होता है। उनकी कविता का एक वेगवती तरग-संकुल पहाडी निर्झरिणी के सदृश, हृदय-कगारों को गुँजाती हुई आगे बढ़ती है। भावनाओं के भँवर शब्दों की अविच्छिन्न धारा में आपसे आप गुँथ जाते हैं। हमें तो बस एक प्रवाह, द्रुत गति से लहराता हुआ दिखाई देता है। जैसे—

एक चिनगारी तड़प कर कह
उठी 'था कौन परिचय ?'
एक आँसू छलक कर लिख
गया उर का करुण अभिनय,
एक सहमी दृष्टि का—
निर्दोष लाया एक गाथा
एक क्षण का मिलन ही यों
कर गया व्यापार विनिमय!
एक ही सुख, एक ही दुख
एक ही कारण व्यथा का
एक कसकन, एक आशा !

—और यह भावों की आँधी क्या बही ? इस जिज्ञासा का उत्तर हमें भगवन्त के ही एक वाक्य मे मिल जाता है जो उन्होंने कुछ दिन हुए मेरे पास भेजा था। वह वाक्य यों था--'कभी-कभी हृदय मनोवेगों से इतना भर जाता है कि क़लम उठानी ही पडती है ! उस समय यदि

कविता न लिखूँ तो शायद हृदय फट जावे।' भगवन्त की रचनाओं में जो प्रवाह है, जो आवेग है, उसका यही रहस्य है।

गीति-काव्य का अस्तित्व ही संगीत पर निर्भर है। भगवन्त के कई गीतों में यह गुण विशेष रूप से प्रकट हुआ है। मानसिक आवेगों का चित्रण उपयुक्त छन्द में, उपयुक्त शब्द-ध्वनियों द्वारा ही भगवन्त ने कराया है। सम्भवतः उज्जयिनी के इस कवि ने किसी अरुण रागरजित, कलरव कूजित, मधुर उषाकाल में शिप्रा की कल-कल ध्वनियुक्त संगीत-प्रिय तरंगों से ही सगीत का प्रथम पाठ सीखा है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

साध यही है प्रियतम
पास सदा रहो!
सुधि बेसुध, उर अशान्त,
लोचन दर्शनोद्भ्रान्त
साधें यों व्यथाक्रान्त
चुप क्यों? कुछ कहो!
पास सदा रहो।

यहाँ छन्द की गति में एक प्रेमातुर हृदय बोल रहा है। और भी—

इठला इतरा झुक झूम-झूम,
केवल चाहा लूँ चरण चूम,
पर उनने ही तो विहँस व्यर्थ
झंकृत कर दी यह छरर छूम,
अब विरह दोल पर रही झूल।
मेरी ही इसमें कौन भूल!

—भगवन्त भी जीवन और संसार को प्रगतिशील मानते हैं पर इस 'प्रगतिशीलता' की ओट में वर्तमान समय में साहित्य में जो अनर्थ हो रहे हैं, उनके ये पक्षपाती नहीं। प्रगतिशीलता के नाम पर कुछ 'महाकवियों' के समान भगवन्त ने 'सेक्स' (Sex) की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास नहीं किया है। मेरे विचार से काव्य में प्रगतिशीलता का अर्थ कवि का सुरुचि के साथ सामयिक होना ही है और इस अर्थ में भगवन्त प्रगतिशील भी हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

दो मुट्ठी आटे में ज्वाला बुझ
जाती है बेबस नर की
चार हाथ कपडे से ढक जाती
है लज्जा उस जर्जर की

× × ×

ईश्वर ही दुनिया में होता
तो यह अत्याचार न होते
मानव के अपने भाई के प्रति
ऐसे व्यवहार न होते।

× × ×

यह कैसी पशुता जागी है
सिसक रही है जो मानवता!
कब तक ऐसे इठलाएगी;
भूमण्डल पर यह बर्बरता।

× × ×

प्यार प्यार के छद्म आवरण
ही में छिपा हुआ छल-बल है

इसीलिए प्रत्येक श्वास में
अंकित दुस्सह कोलाहल है !

इस भाँति प्रेम की सुकुमार गुत्थियों को सुलझाने वाला हमारा मधुर कवि जग और जीवन की समस्याओं से भी अपरिचित नहीं है और इसी में उसकी वास्तविक प्रगतिशीलता निहित है। राखी आदि विषयों पर रचना कर कवि ने अपने संस्कृति-प्रेम का भी परिचय दिया है जो अन्य कवियों के लिए अनुकरणीय है।

अन्त में मुझे यही कहना है कि हिन्दी के उदीयमान कवियों में भगवन्त का भविष्य सबसे उज्ज्वल है। यह बाल-सूर्य, क्षितिज से धीरे-धीरे ऊपर उठ रहा है, हमारी आशाओं के कमल विकसित हो रहे हैं। महाकवि कालिदास की पुण्य नगरी उज्जयिनी का निवासी यह किशोर कवि मेरा अनन्य मित्र चिरजीवी हो, अपनी प्रतिभा से दिन प्रतिदिन भारती को अधिकाधिक गौरवान्वित करे यही मेरी भगवान से एकमात्र कामना है।

दीपावली
साकेत, प्रयाग

चन्द्रप्रकाश वर्मा
बी० ए० (ऑनर्स)

— —

कविताएँ

प्रथम पंक्ति	पृष्ठ

———

अर्चना

[१]

एक-एक आँसू चुन-चुन कर
यह अञ्जलि भर लाई हूँ मै।

क्या चरणों को नहीं पखारूँ?
क्यों न तुम्हीं पर सब कुछ वारूँ?
आओ तो, आरती उतारूँ!
हिय का दीप जला, स्नेहाञ्चल
से सँभालती आई हूँ मैं!

रक्त-बिन्दु बन मुक्ता के कण;
क्यों भर-भर आते है प्रति क्षण ?
स्वरित बनाने को यह क्रन्दन;
जो न कभी झाँका जीवन में
उसे खींचती लाई हूँ मै !

भाव-सुमन को बेध-बेधकर;
प्राण-सुरभि इनमें सहेज कर;
अरमानों को छेद-छेदकर;
मुरझा जाने वाली माला
व्यर्थ गूँथती लाई हूँ मैं !

क्यों ? क्या सोच रहे बतलादो ?
टुक अन्तर्ज्वाला उकसा दो;
अस्वीकृत हो तो ठुकरा दो;
सुख-दुख पागलपन में रँगकर
मधु-वसन्त सी छाई हूँ मै !

—१० जनवरी, १६३७ ई०

——————

[२]

आज नहीं, कल तो आवेंगे !
जब प्रियतम ने अपनाया है,
तब क्या यों हीं ठुकरावेंगे !

मुरझा रहीं अछूती कलियाँ
जिनसे कहीं गुँथ सकी माला,
आशा-त्रस्त, प्रतीक्षा रोती,
खोजूँ कहाँ पहिनने वाला ?
मत उमडो तूफ़ान, विश्व तम-
मय है-दिखता नहीं उजाला !
मूक बने अरमान, भावनाओं
पर पडा हुआ है ताला !
मुझ अबला को वे उदार
कब तक ऐसे तडपावेंगे ?

मन चञ्चल है—कुछ भी
कहने लगता है कुछ कहते-कहते,
उर दुर्बल है—कुचल चुका है
नित नव पीडा सहते-सहते,
नेत्र विकल है—रात्रि-दिवस
सावन-भादों से बहते-बहते,
यत्न विफल हैं—जन्म हुआ
कर्तव्यहीन हो रहते-रहते।
नित्य तडपते प्राण सजनि!
कह कभी शान्ति भी पावेंगे?

कौन कह रहा "वे रूठें हैं"
छोड़ूं दर्शन तक की आशा,
यह तो युग-युग से जाने हूँ,
विरह, प्रणय की चिर परिभाषा!
किन्तु न वनने दूँगी जीवन,
निष्ठुर जग के लिए तमाशा!
अन्तस्तल में ढाँक रखूँगी,
मधुरमिलन की प्रिय अभिलाषा!
सूखे हृदय-कुञ्ज में क्षण भर
स्नेह - सुधा बरसावेंगे!

उनका मादक स्नेह क्या मिला,
चिर-सञ्चित जीवन-निधि पा ली !
अबतो क्या उज्वल प्रभात होगा,
क्या घोर तमिस्रा काली,
मुझको उपालम्भ ही क्या है,
उनको शान्ति मिल सके आली,
उनके सुख में छिपी हुई है,
मेरे जीवन की हरियाली !
महासिन्धु हो, एक बूँद
के लिए नहीं तरसावेंगे !

—११ जुलाई, १९३७ ई०

---

[३]

साध यही है प्रियतम !
पास सदा रहो !

विरह-विधुर चिर जीवन,
सजग हूक, मूक रुदन,
दुस्सह व्याकुल क्षण-क्षण,

इधर ही न वहो !
पास सदा रहो !

सुधि बेसुध, उर अशान्त,
लोचन दर्शनोद्भ्रान्त,
साधें यों व्यथाक्रान्त,

चुप क्यों, कुछ कहो !
पास सदा रहो !

यत्न विफल, अमर चाह,
शूलों से घिरी राह;
हर्ष-शोक, धूप-छाँह,

जो बीते, सहो !
पास सदा रहो !

—१ मार्च, १६३८ ई०

———

[४]

उड़ चलो रे प्राण क्षण
भर उस सलोने के नगर मे !

आज तक मैने मचलते
हृदय का क्रन्दन सँभाला,
देखती ही रही गुपचुप
विधाता का लेख काला !

इस तड़पते प्रणय ने अब
कौन सा अरमान पाला ?
जो कि इतनी असहनीया
हो गयी है विरह-ज्वाला !

कौन बाधा शूल भी हैं
फूल से प्रिय की डगर में !
उड़ चलो ना प्राण क्षण भर
उस सलोने के नगर मे !

यह कठिन सन्ताप तिस पर
मैं रही बिलकुल अकेली !
चिर निराशा ही बनी है
इस समय मेरी सहेली;

कौन सी पीड़ा नहीं मैंने
सदा ही सहज झेली ?
फिर न जाने बन रही क्यों
मैं स्वय को ही पहेली !

किस तरह तूफान रोका
जा सकेगा इस प्रहर मे ?
कब चलोगे प्राण क्षण भर
उस सलोने के नगर मे ?

उर-गगन में क्यों न जाने
साध घन हो घुमड आई !
कौन सी स्मृति तृषित नयनों में
विपुल जलधार लाई ?

"पद पखारूँ ! पद पखारूँ" !!
यह कहाँ की धुन समाई ?
व्यर्थ आश्वासन न दो
यह और भी है दुःखदाई !

पहुँचने दो सजन तक
सन्देश मेरा उच्चस्वर में !
उड़ न चलते प्राण क्षण भर
उस सलोने के नगर में !

विवशता या विकलता किसका
कहा मैं आज मानूँ ?
लोकवश उन्मत्त अन्तर
से कहाँ तक द्रोह ठानूँ ?

ये उसाँसें, यह कसक,
यह हूक, कैसी टीस है यह ?
घोर तम है, मूढ़मति
मैं स्तब्ध, कैसे राह जानूँ ?

झिलमिलाता, सजनि ! जीवन-
दीप, नौका है भँवर में ।
उड़ चलो अब प्राण क्षण भर
उस सलोने के नगर में ।

—२६ जनवरी, १९३८ ई०

[५]

मैं तुम्हारे प्यार का वन्दी
बना हूँ—यह न भूलो।
अटपटा मग,
चिर सजल दृग,
खिल उठा है शून्य उर में
आज कोई स्वप्न जगमग,
भूल सब सन्ताप आनन्दी
बना हूँ—यह न भूलो!
साध नीरव,
शिथिल अवयव,
क्यों न जाने कभी हँस पड़ता
अचानक व्यथित-शैशव,
निठुर जग का घोर प्रतिद्वन्दी
बना हूँ—यह न भूलो।

—२२ नवम्बर, १९३७ ई०

———

[६]

तब फिर क्यों जगती आज हूक ?

यदि वे कर ही देते विस्मृत,
क्यों हृत्तन्त्री होती झंकृत ?
आँसू यों प्रतिपल हो निसृत;
क्यों करते आली ! उर आवृत ?
हो बैठी हूँ सब तरह मूक !
तब फिर क्यों जगती आज हूक ?

सह-सह जग के भीषण प्रहार;
जीवन बनता ही गया भार;
जब फैला गहरा अन्धकार;
क्यों उथली पड़ती प्रणय-धार ?
तू ही कह मेरी कौन चूक ?
तब फिर क्यों जगती आज हूक ?

जब कोई यों दे रोक राह;
तब भी रह जावे दबी आह ?
कैसे थम सकता यह प्रवाह ?
वैसे मेरी कुछ नहीं चाह,
क्या आशा होगी टूक टूक ?
तब फिर क्यों जगती आज हूक ?

मेरा ही तो था यह प्रमाद;
जो अब तक पोसा करी साध,
मादक, मनहर, सपने अगाध,
हैं ले आते नित नई याद;
सुन पड़ती क्षण भर एक कूक !
तब फिर क्यों जगती आज हूक ?

—२१ मार्च, १९३८ ई०

— —

[७]

कुछ कह लूँ कुछ सुन लूँ आली!

दो दिन की दुनियाँ है—
फिर भी होने दे सुख-दुख का विनिमय,
अगणित उच्छवासों ही से
तू पा लेवेगी मेरा परिचय;
मिलन-विरह के तानों-बानों से—
जीवन-पट बुन लूँ आली!

कुछ कह लूँ, कुछ सुन लूँ आली!

तुझ में है चापल्य—
सहज अल्हड़ता, मादक मतवालापन,
क्या समझेगी मेरे
उर का घाव, प्राण की गहरी उलझन;
अर्घ्य कहाँ है, इस वेला में
अश्रु-बिन्दु ही चुन लूँ आली।

कुछ कह लूँ, कुछ सुन लूँ आली।

—२२ दिसम्बर, १९३७ ई०

[८]

प्रिय ! तुम्हारे मृदु चरण !

आज मेरे दग्ध उर को
हो रहे हैं आवरण !

मैं न जानी यहाँ ही शीतल
मधुर वातास क्यों है ?
औ, न पहिचानी प्रणय के मर्म
का परिहास क्यों है ?

मोह-सागर-मज्जिता के
हेतु बनकर सन्तरण !

यह अभागिनि कहाँ लाई,
गन्ध, अक्षत, पुष्प-माला ?
स्नेह तक से शून्य दीपक क्या
न मैंने व्यर्थ बाला ?

कहीं कर लेना न यह
अधिकार पूजा का हरण !

छटपटाता विकल पक्षी
इसी छाया में पला है।
हाय! यह दुर्दैव !! जगको
क्षणिक सुख भी क्यों खला है ?

साधना साकार हो,
करने चली मुझको वरण !

भेंट तनमन हो चुके हैं,
वारना है प्राण उनपर।
क्यों न बरसा दूँ युगों के
अविकसित अरमान उनपर !!

भूल जावें मान, पावें
देख यदि यह मुख करुण !

२

जन्म से मैं रूठती आई,
तुम्हीं मनुहार करलो!
भूलकर अपराध केवल,
एक क्षण ही प्यार कर लो!!

अश्रु मेरे, गोद में ले,
पोंछ दो अशरण-शरण!

—२० मार्च, १९३७ ई०

[९]

कौन सी शुचिता भरी
थी अक में प्रिय के ?

हर लिये जिसने युगों
के पाप औ' सन्ताप ?
मुझे बन आये सजनि,
वरदान जग के शाप ।

कौन आशा-शून्य उर में
भर गया मधु-हास ?
उत्स-सा जो छूट कर
जग में रहा है व्याप ।

कौन-सी शुचिता भरी
थी अक में प्रिय के ?

आज पूरे हो गये
चिर काल के अरमान;
पर न जाने क्यों न उस
मुख पर उठी मुसकान?

सफल होकर भी विफल
ही हाय! उर की साध;
या सदा भ्रममय रहा है
प्रणय का अनुमान?

कौन-सी शुचिता भरी
थी अंक में प्रिय के?

—१ अप्रेल, १९३७ ई०

———

[१०]

आज मरण ही मन भाया है !
प्राणों की सूनी समाधि पर ,
फिर वह घटाटोप छाया है !
आज मरण ही मन भाया है ।

भार हो रहा है जब जीवन ;
दुस्सह क्षण-क्षण का पागलपन;
किस आशा पर श्वासें झूलें
बढती ही जाती है उलझन ;
भटक-भटक इस मानस का तम
रेख ज्योति की लख पाया है ।
आज मरण ही मन भाया है ।

कितना धैर्य रहित है यह मन,
उकसाता जाता जो तड़पन;
क्यों हठ करती, यदि न मिला
होता उन चरणों का आकर्षण;
अपना ही अरमान यहाँ तक
मुझको सजनि खींच लाया है।
आज मरण ही मन भाया है।

व्यर्थ-व्यर्थ है यह आश्वासन,
कैसे भी मिट पावे क्रन्दन;
रहने में तो जग का भय था,
मेरे जाने पर भी बन्धन;
किसी तरह भी शान्त न मिल
पावे, यह भी कैसी माया है।
आज मरण ही मन भाया है।

तुमने कब समझी, क्या अड़चन;
क्यों रहती हूँ निशि दिन उन्मन;
कौन छलकता है दृग-जल में—
क्या कह जाता उर का स्पन्दन;
बुझ-बुझ सुलग-सुलग उठने
वाली, मेरी ही तो काया है।
आज मरण ही मन भाया है।

आली ! मैं युग-युग की निर्धन ;
ना हो पाया उनका पूजन ;
इस बेला में भी उनको ही
खोज रहे हैं व्याकुल लोचन ,
अन्तिम समय हाय ! इस जी में
यह कैसा गुबार आया है !
आज मरण ही मन भाया है !

घुमड रहे हैं अन्तर में घन ,
खेल रहा पुतली में सावन ;
मेरे बस की कौन बात है
उजड चुका जब यह नन्दन-वन;
आहों को समेट कर तो मैंने
यह करुण गीत गाया है !
आज मरण क्यों मन भाया है ?

—१२ मार्च, १९३८ ई०

[११]

पर वे क्यों रखते है दुराव ?

मै नित प्राणों में सिसकन भर;
देखा ही करती हूँ अम्बर;
तारों से पूछूँ हूँ डर-डर;
क्यों सूना सा है वह अन्तर;
खलता है केवल यह अभाव !
वे-वे क्यों रखते हैं दुराव ?

कह देगी प्रतिध्वनि तक पीड़ा;
जो उनने समझी है क्रीडा;
आखिर मैं कब तक समझाऊँ
अपनों से नहीं उचित व्रीड़ा;
पर उन पर क्यों होगा प्रभाव ?
रखने भी दो उनको दुराव !

यों कब तक डूबूँ उतराऊँ;
क्या नित्य नये गोते खाऊँ?
उत्सुक आँखें पथराजाएँ;
पर परछाईं तक ना पाऊँ;
ऐसा भी क्या निर्मम स्वभाव!
जो वे यों रखते हैं दुराव!

केवल यह उत्कंठा निशिदिन;
उनको न छुए दुख का कटु क्षण;
मुझ पर कितना ही विधि रूठे,
उस ओर सदा हो मधु-वर्षण;
वे समझ न पाये सजनि! घाव!
जानें क्यों रखते हैं दुराव!

—२३ ऑक्टोबर, १९३८ ई०

———

[१२]

बह चली, मैंने न देखा प्यार री !

क्यों सदा ही रहा करती अनमनी;
किसी ने निश्वास की गति कब सुनी,

बन गया फिर क्रूर क्यों ससार री !
बह चली, मैंने न देखा प्यार री !

उमड आई विरह की दुस्सह व्यथा;
जो बनी निष्ठुर जगत को प्रिय कथा;

क्यों मिला उपहास ही उपहार री !
बह चली, मैंने न देखा प्यार री !

जन्म-भर केवल यही अरमान था;
मिट सके यह बीच का व्यवधान सा;

हो रहे वह रूप चिर साकार री!
बह चली, मैंने न देखा प्यार री!

मैं मिटूँ पर अमर हो ले चाह यह;
कभी भी पूरी न होवे राह यह;

औ' चिरन्तन बने यह आधार री!
बह चली, मैंने न देखा प्यार री!

विमूर्छित हैं मिलन के सपने सुभग;
सुधि-विमोहित मौन के अभिसार जग;

गूँजती प्रतिपल वही झंकार री!
बह चली, मैंने न देखा प्यार री!

मैं भ्रमित हूँ किन्तु जग को क्लेश क्या!
रम रहे प्रिय प्राण में—सन्देश क्या!

चरण-चुम्बन हो अटल अधिकार री!
बह चली, मैंने न देखा प्यार री!

पागलों सी नित्य ही विचरा करूँ;
अश्रु हो उद्दाम निर्झर सी झरूँ;

इसे कोई क्यों कहे अविचार री!
बह चली, मैंने न देखा प्यार री!

अब न भटकें अमुकुलित साधें कहीं;
मान क्यों मेरा तिरोहित हो यहीं;

हार जाए सजन की मनुहार री!
बह चली, मैंने न देखा प्यार री!

—२७ जुलाई, १९३८ ई०

---

[१३]

दूर, क्षितिज के पार तुम कौन ?

मैं तो उझक-उझक कर हारी,
पर न मिलन की आई बारी;
कब तक कौन प्रतीक्षा थामे,
हो प्रयाण की ही तय्यारी;
मेरे स्वर में, इस रोदन पर,
लहरा दो ना मलय-पौन !
दूर, क्षितिज के पार तुम कौन ?

कहाँ खिची री, स्वर्णिम-रेखा,
वह सपना देखा—अनदेखा;
जीवन का, जग का, यौवन का,
सब मेरी आहों का लेखा;
इन प्रश्नों को, सम्बोधन को,
कुचल न दो यों शान्ति—मौन !
दूर, क्षितिज के पार तुम कौन ?

जब-जब व्यथा उमड पाती है;
पुतली शीघ्र घुमड आती है;
अन्तराग्नि मचली पडती है,
धूमिल साध सकुच जाती है;
मेरी उत्सुक जिज्ञासा पर,
प्रिय ! न रहो इस भाँति मौन !
दूर, क्षितिज के पार तुम कौन ?

—२४ अगस्त. १६३८ ई०

———

[१४]

एक कसकन, एक आशा !

एक रेखा ज्योति की छिटकी,
घिरा था तम अमा का !
एक ही तो साध थी
जिसने रुलाया यों निरन्तर !
एक ही पथ पर निठुर जग
ने बिछाये शूल—प्रस्तर !
एक नन्हा उर बिलखती
चाह भी तो एक ही थी !
एक ही तो आह से है
ध्वनित अवनी और अम्बर !
एक ही गति से चली मै;
कब कभी उस ओर झाँका !
एक कसकन, एक आशा !

एक मनहर लक्ष्य आली
एक वह आराध्य मेरे !
एक ही उच्छ्वास प्रतिपल
क्यों मुझे है आज घेरे !
एक मधु-ऋतु, एक कोकिल,
एक ही तो कूक थी वह !
एक छवि, हाँ एक आकर्षण
लगाता नित्य फेरे !
एक सुधि ही तो उमड कर
बन गई री यों तमाशा !
एक कसकन, एक आशा !

एक चिनगारी तड़प कर कह
उठी "था कौन परिचय ?"
एक आँसू छलक कर लिख
गया उर का करुण अभिनय !
एक सहमी दृष्टि का
निक्षेप लाया एक गाथा !
एक क्षण का मिलन ही यों
कर गया व्यापार विनिमय !
एक ही सुख, एक ही दुख,
एक ही कारण व्यथा का !
एक कसकन एक आशा !

एक पागलपन न जाने
क्यों उभरता आ रहा है !
एक होकर भी उन्हें
दो रूप रखना भा रहा है !
स्वय "दो" भी एक ही
तो चर्या में रहता समाया !
नियति का ही चक्र हम
पर एक दुर्दिन ला रहा है !
कभी एकाकार होंगे,
खिल उठेगी मूक भाषा !
एक कसकन, एक आशा !

—१० ऑक्टोबर, १९३८ ई०

---

[१५]

जग समझता मोह माया,
वासना से म्लान काया;
किसी के विक्षिप्त उर को
कौन कब पहिचान पाया;
मूक रहना भी यहाँ पर
कौन सा अपराध है?
यह किसी की याद है!

साधना-रत प्राण मेरे,
विफल अनुसन्धान मेरे;
किसी सपने की तरगें,
क्यों मुझे इस भाँति घेरे;
आज आहों में बसा, यह
कौन सा सम्वाद है?
यह किसी की याद है!

कूक मेरी, सतत रोदन,
चूक, मादक स्नेह बन्धन,
शान्ति देती है मुझे अब—
हूक ही तो संगिनी बन!
छलछलाये नयन में—
दुबकी कहाँ की लाज है?
यह किसी की याद है!

रहें री! चाहें प्रकम्पित,
मिटूँ मैं उस मान के हित;
खेलती हों श्वास में साधें
मिलन की चिर विमूर्च्छित;
बिछ सकूँ उस पथ में—
केवल यही उन्माद है!
यह किसी की याद है!

—२६ अप्रेल, १६३६ ई०

[१६]

स्वप्न के दो मधुर क्षण भी
निठुर ! छीने ले रहे क्यों ?

सजनि ! मैं निस्पृह, कहाँ की
प्रीति, कैसा प्यार है यह ?
आज विस्मृति ही बनी इस
प्रणय का आधार है जब !
किस तरह कह दूँ, मुझे
अपने हृदय से दूर रक्खें ?
बना अन्तर्वेदना में ही
नया ससार री ! अब !
मैं चली मिटने, बता दे,
व्यर्थ नौका खे रहे क्यों !

हाय ! मैं कितनी विवश हूँ,
खेल है अभिमान मेरा !
कौन ठुकराता सदा ही
इस तरह अरमान मेरा ?
कर्म क्या, उर क्या, सभी से
दूर आली ! हो चुकी हूँ !
किन्तु बढकर, पास लाता
जा रहा व्यवधान मेरा !
लीन होना है मुझे तो
साथ में वे बह रहे क्यों ?

साधना में बावली मैं,
चल रहे वे छाँह होकर !
मै यहाँ निस्पन्द हूँ,
क्यों खींचते हैं राह होकर ?
अश्रु-जल से सींचना है
इस हृदय की अग्नि मुझको;
वहुत क्रीडा हो चुकी, अब
तो न आवें चाह होकर !
ले चुके सर्वस्व, अब प्रति-
दान कैसा दे रहे यों !

मैं किसी बिछुड़े हृदय की
याद, मेरा लक्ष्य निश्चित !
खेलते रहते यहाँ; कितने
न झंझावात अविदित !
किसी उजडे महल की
बुझती हुई दीपक-शिखा हूँ !
यहाँ किसका कौन ? जग
मेरी व्यथा से चिर अपरिचित !
किस सजग सुधि से विजित हो
प्राण यह सब सह रहे यों ?

—सितम्बर, १६३७ ई०

[१७]

झरते नयन क्षण-क्षण !
खिल रहा पुतलियों में,
सजनि ! फिर सावन !
झरते नयन क्षण-क्षण !

साधें उझक रहीं ले उर व्यथा-भार,
रिमझिम मची है, घिरा है पलक-द्वार;

इनने न जाना कि है क्रूर संसार,
औ' सींचती ही रहीं स्तब्ध सा प्यार;

इस तरह बढ़ता गया
नित्य पागलपन !
झरते नयन क्षण-क्षण !

किसको पड़ी जो कि ले गंगा की थाह;
बन गई दुस्सह मिलन की सजग चाह;
अब खोजती हूँ मिलेगी कहीं राह;
कोई सहे, किस समय तक कठिन दाह:

अविराम बरसें, बने,
नेत्र पावस-घन ।
झरते नयन क्षण-क्षण !

थी कौन उनसे कभी सजनि! पहिचान,
जो यों व्यथित कर रही मधुर मुसकान;
मैं रो रही हँस रहा आज अरमान;
या वे मिलें या कि हो शीघ्र अवसान;

क्यों बज उठी हृदय-तन्त्री
झ न न न न न न !
झरते नयन क्षण-क्षण !

मुझको नहीं मिलन का शेष विश्वास;
पतझार ही में रमे क्यों न मधुमास;
प्रत्येक उच्छ्वास, प्रत्येक निश्वास;
चाहा करे प्रिय-चरण-मात्र आवास;

मैं हूँ विवश, आज है
व्यर्थ आश्वासन।
झरते नयन क्षण-क्षण।

—१२ जून, १९३८ ई०

———

[१८]

प्यार है यह अथवा उर-भार !

मैं पागल हूँ, रोया करते हैं
प्रतिपल उत्सुक अरमान !
घोर निराशा से टकराकर
श्वासें रह जातीं म्रियमाण !
स्नेह-सुधा से प्लावित हो जब—
खिल उठते हैं उन्मन प्राण !

फिर क्यों अन्तर की धडकन
में दहक रही ज्वाला अनजान !
कहो माँ ? जलना ही संसार ?
या कि यह जीवन है निस्सार ?

मेरी मूक साधना का जग
समझ सकेगा क्या इतिहास !
शिथिलप्राय गति और बढ़ाती
रहती है उसका उपहास !

किसी जन्म में सफल हो
सकेंगे मेरे अविचल निश्वास ?
पतझारों के बीच कभी 'भी
जग पाएगा क्या मधुमास !

चरण कब धुल पाए सुकुमार ?
सूखती है आँसू की धार ?

आहों में सगीत, रुदन में
छिपा हुआ है मादक गान !
मैं भरमाया सा फिरता हूँ
खींची नहीं जायगी तान !
तन्मयता की इस बेला में
कैसा ज्ञान और अज्ञान !

मुझको तो "मिट जाना" वर है
जग को हो अभिशाप महान् !
बुलाता है कोई उस पार !
अरी माँ ! कर ले अन्तिम प्यार !

—२० मई, १९३९ ई०

---

[१९]

मेरी ही इसमें कौन भूल ?

हाँ, उफन पड़ा री ! दुसह ज्वार,
जिसको थामे थी हर प्रकार;
जब विवश विकल हो उठी साध
जग चीख उठा "है यही प्यार !"
क्यों नहीं पा सकी सजनि ! कूल ?
मेरी ही इसमें कौन भूल ?

इठला, इतरा, झुक झूम-झूम;
केवल चाहा लूँ चरण चूम;
पर उनने ही तो विहँस व्यर्थ
झङ्कृत कर दी यह छरर-छूम,
अब विरह-दोल पर रही झूल !
मेरी ही इसमें कौन भूल ?

जब हुई इधर इस भाँति दृष्टि;
लहरा अन्तर लख स्नेह-वृष्टि;
बेसुध कम्पन ने एक पुलक
से आवृत कर दी अखिल सृष्टि;
प्रिय ही हैं पथ के तीक्ष्ण शूल !
मेरी ही इसमें कौन भूल ?

प्रिय ! भुजपाशों में करूँ बद्ध;
मैं इधर-उधर तुम हो विमुग्ध;
जब पल भर का ही मिलना है;
यों झूठ-मूठ मत बनो क्षुब्ध;
खिलने दो उर के सलज फूल !
मेरी ही इसमें कौन भूल ?

—१६ ऑक्टोबर, १६३८ ई०

———

[२०]

मै कब तक उनका पथ जोऊँ ?
सकुच-सनेह लिए कब तक मे
प्राण-प्रदीप सँजोऊँ ?

जीवन की दो बेकल घड़ियाँ;
सज्जित है बन आँसू लड़ियाँ;
इन श्वासों में गुँथी हुई यों—
प्रिय-बन्धन की मंजुल कड़ियाँ;
हृदय-मरु-स्थल में आँखों
की बूँद कहाँ तक बोऊँ !

भाग्य जगे—आए वे आए!
ऊसर में भी सुख-तरु छाए?
युग खोए सुनते-सुनते ही—
अब दो क्षण कहने को पाए!
पद-प्रक्षालन हेतु बावली!
क्या न ज़रा भी रोऊँ?

हाय! हुआ यह भी सब सपना!
मुझे वही विरहानल तपना!
दुर्दिन फिर प्रमाद लाया है—
कैसा प्रिय? कैसा है अपना?
हिय में निश्चय ही कल्मष तो
क्यों न उसे ही धोऊँ?

बार-बार तम-अन्तर्पट पर,
–जीवन-नौका के उस तट पर—
उनकी प्रतिमा आ जाती है—
चौंकाने, बहकाने क्षण भर!
जीवन ज्वाला के प्रकाश में
क्या उसको भी खोऊँ?

—सितम्बर, १९३६ ई०

[२१]

क्यों सदा केवल प्रतीक्षामय
रही अनुरक्ति मेरी ?

युगों से बैठी रही मैं मूक ही;
हो गई अनजान में यह चूक री;
किन्तु कोई देख पाया कब कि क्यों;
शून्य नभ में गूँजती है हूक-सी ?
आज का यह मौन ही
तो है सफल अभिव्यक्ति मेरी ?

एक ही, हाँ एक तो अरमान था;
जोकि पल में बन गया तूफान-सा;
दे गया मुझको न जाने क्यों सजनि !
शाप भी सुख इस घड़ी वरदान का;
बन गई है अब स्वय
भगवान ही यह भक्ति मेरी !

क्यों न चल कर प्राण-पिय के पास रह,
हो सके लय उन चरण में श्वास यह;
सुधि-निमज्जित प्यार से किसने कहा;
निठुर मानव का कठिन उपहास सह;
साधना में ढूँढ़ता है
क्यों जगत आसक्ति मेरी ?

छिपी स्पन्दन में हृदय की रागिनी;
उड़ चली ले चाह, मेरी, दामिनी;
आँसुओं की बन्दिनी क्या साध थी;
मर्म ले यह चकित है री ! यामिनी;
जब कि हो आई चिरन्तन
प्यास ही परितृप्ति मेरी !

—५ मई, १९३७ ई०

[२२]

भटकती ही फिर रही है
साधना मेरी युगों से;
फिर छलक आई व्यथित
सी कामना प्यासे दृगों से;
प्राण! दो वरदान जिससे
पास प्रतिपल रह सकूँ मैं!

श्वास को देती रही गति
आज तक उनकी सजग सुधि;
अब मचलता उर न रोका
जा सकेगा किसी भी विधि;
डुबा निज अस्तित्व, एकाकार
होकर वह सकूँ मैं।

सजनि ! मैं कैसी विकल
कितना दुसह उन्माद मेरा;
सोच तो क्या प्यार करना
भी कहीं अपराध मेरा;
साध है इस क्षण, चिरन्तन,
वेदना को कह सकूँ मैं !

चातकी की हूक में सन्देश
मेरा पढ़ न लो प्रिय;
इस विसर्जन को जगत
समझा करे चाहे पराजय;
या मुझे वह शक्ति दो, जिससे
विरह-दुख सह सकूँ मैं !

प्राण ! दो वरदान जिससे,
पास प्रतिपल रह सकूँ मैं !

—१८ मई, १६३८ ई०

———

[२३]

मैं विरह-दग्धा मुझे संसार-
सुख क्या मोह लेंगे ?
आज आकुल प्राण उस
निष्ठुर-हृदय की टोह लेंगे !

मैं यहाँ बिलखा करी, वे
चल दिये अनजान बनकर !
बन्धनों में जकड़ कर क्यों
उड़ गये अभिमान बनकर !

श्वास की गति में सजनि!
साकार बन वे खेलते हैं!
कौन जाने इस हृदय के
भार को यो झेलते है!

देखती ही रह गई री!
भावमुग्धा मैं अयानी!
स्वप्न-सा, वह मिलन, बन आया,
विरह की चिर-कहानी!

मुझ अभागिनि को तनिक भी
यह नही विश्वास आया!
इस दुखद पतझार को, क्यों
आज ही मधुमास लाया!

मचलती आँखें, सजल
बन पूँछतीं सन्देश तेरा!
दग्ध-उर की आग का
परिचय कहेगा वेश मेरा!

जो मिलें इस बार प्रियतम,
रोक लूँ उस राह को ही!
रम रहूँ उस चरण-रज में,
मिटा उरकी चाह को ही!

वह रहें प्राणेश, मैं अधिकार
पूजा का न खोऊँ ?
पाद पद्मों को हृदय-धन !
अश्रु-जल से नित्य धोऊँ !

—जून, १६३७ ई०

[२४]

जब-जब याद घुमड़ती आती,
मैं जी भर कर रो लेता हूँ !

प्राणों में कोलाहल फैला,
उबल-उबल उठते अंगारे !
श्वास-श्वास से आँखमिचौनी
खेला करते हैं फ़व्वारे !

युग-युग के सपनों की दुनियाँ
ठुनक-ठुनक जब मचला करती !
निष्ठुर जग के दाव-पेच से
बेबस काया ख़ूब झगड़ती !

अन्तस्तल में एक टीस झकझोर
अचानक भर-भर जाती !
तन्मय हो उठने स्मृति में
कुचली आशा उभरी आती।

प्रिय अतीत के पथ-चिह्नों को
अश्रु अर्घ्य से धो लेता हूँ।
जब-जब याद घुमड़ती आती,
मैं जी भर कर रो लेता हूँ।

मेरे ही अरमानों ने तो उन
चरणों से प्यार किया था।
उस अञ्चल में यों गुपचुप छिप
रहने का अभिसार किया था !

वह मुरझाई अभिलाषा तब
विद्युत् सी साकार हुई थी।
रोम-रोम की पुलक उसी क्षण
एक नया ससार हुई थी !

फिर-फिर कौंध उठी है इस पल
वही चमक मेरी धड़कन में !
काले बादल घिरे हुए जब,
इस जीवन के पागलपन में।

बार-बार उजड़ी दुनियाँ में
विरह-ज्वाल को बो लेता हूँ !
जब-जब याद घुमड़ती आती,
मैं जी भर कर रो लेता हूँ !

उन नयनों का छल, नयनों में
मूर्ति बना कसका करता है।
वह दुलार लुक-छिप पलकों में
फूट-फूट आहें भरता है।

विवश, व्यथित खीझी-रीझी सी,
नयनों की शिशुता झरती है !
यह, यह दंशन की सी ज्वाला,
पल-पल नई हूक भरती है !

जन्म-जन्म की मूक-साधना,
पा न सकी जब तुमको साजन।
भुला सकेगी किस प्रकार वह
मधुर मिलन के वे व्याकुल क्षण !

दुस्सह अटल वियोग-ज्वार को,
रो-हँस कर बस ढो लेता हूँ।
जब-जब याद घुमड़ती आती,
मैं जी भर कर रो लेता हूँ।

आहों की समाधि पर टिम-टिम
कौन ज्योति जलती रहती है !
वह छवि इन कोमल कलिकाओं
को झुठला छलती रहती है !

इस विदग्ध अन्तर में अब फिर
कौन बाण धँसते जाते हैं !
किस प्रवञ्चना में बतलाओ
विकल प्राण फँसते जाते हैं !

आज प्रेम या मृत्यु एक ही
रह पाएगा मेरे द्वारे !
कौन बुलाता है अनन्त के पार
मुझे रह-रह कर प्यारे !

मरण-निशा के शान्त गगन में
विलम, अमर ही हो लेता हूँ ।
जब-जब याद घुमड़ती आती,
मैं जी भर कर रो लेता हूँ !

—दिसम्बर, १९३९ ई०

— — —

[२५]

आज मेरी साधना की
जगत की पहिचान क्या है ?

वह वही तो जान पाया,
जो उसे मैने दिखाया;
शून्य उर की मूक-पीडा
का पता किसने चलाया ?

हँसो, पागल हो सही;
मैं मस्त अपने हाल में हूँ;
नहीं कितना हृदय के,
इस घाव को मैंने छिपाया ?
आज सब ही खो चुका तब;
शेष, फिर अभिमान क्या है ?

मैं कुपथ पर ही मुड़ा, चिर
कौन इस पर रह सका है ?
युगों से सन्तप्त मै, कोई
क्षणिक भी सह सका है ?
चिर दहकती प्राण की,
प्रलयाग्नि का इतिहास क्यों हों ?
कौन जल जल इस तरह,
चिनगारियों में वह सका है ?
मर्म मेरे प्रणय का अब
बन रहा अनजान—सा है !

पाप में तल्लीन जग ने
सत्य ही में जाल देखा—;
ढूँढ पाया कौन, अन्तर
चीर कर यह अमिट रेखा ?

राह में मिट अमर होना,
ठान जब उर ने लिया है;
व्यर्थ ही क्यों इस पतन
का माँगता संसार लेखा?
बन रहे अनभिज्ञ प्रिय ही,
बच रहा अरमान क्या है?

—२१ जनवरी, १६३७ ई०

———
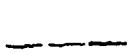
[२६]

मुझे अब उपहार कैसा ?

भूल जाओ, रम रही
कोई तुम्हारी साधना में !
नित्य ही बिलखा करी
प्रिय-विरह की आराधना में !
शून्यता से प्यार कर
चल दी किसी की खोज करने,
बिता लेगी शेष जीवन
उस मनोहर भावना में !
राह जानी एक ही यह,
तब्र सजनि ! अविचार कैसा ?

आगमन-बेला हुई रजकण
मुझे बन कर बिखरना !
छोर ही पथ का नहीं है
नित्य चलना चिर-विचरना !
तुम्हें पा त्रैलोक्य में
अवशेष ही क्या रह गया है ?
प्रिय ! रहो जलधार
मुझको लहर बनकर ही निखरना !
व्यापता आभास कण-कण
में, जगत निस्सार कैसा ?

यह निठुर ससार, मै जिसके
लिये गति छोड़ बैठी !
तुम्हें छू पाये न ज्वाला
इसी से मुख मोड़ बैठी !
किन्तु कब पूछी किसी ने
बात भी क्षण भर ठहर कर ?
साधना-प्रिय—चरण ही से
स्नेह—नाता जोड़ बैठी !
इन व्यथित धुँधले क्षणों में,
भी मुझे प्रतिकार कैसा ?

प्यार में कहने लगे वे
"क्या तुझे प्रतिदान में दूँ ?"
मैं रुकी, यों बोल बैठी,
'तव चरण-रज नित्य चूमूँ।"
रेख लज्जा की उठी
कहने लगे "यह स्वत्व तेरा,"
भूल क्षण भर को गई
"आकाश या पाताल में हूँ ?"
चिर उपेक्षित के लिये, प्रियतम !
कहो सत्कार कैसा ?

—१६ मई, १९३७ ई०

---

[२७]

आज यह आराधना ही
बन रही अपराध,
लालसा क्षण-भर मिलन
की हो गई उन्माद;
बावली को क्या कुटी
अलि ! और क्या प्रासाद !
खेलता है शुष्क अधरों
पर अथक संवाद !
भूल बैठी मैं जगत
प्रियतम ! तुम्हारा प्यार पाकर !

क्यों अचानक गूँज उठती
हाय ! उर में हूक ?
हो गई अनजान में मुझसे
सजनि ! कुछ चूक;
क्यों कलेजा हो रहा
है आज यों दो टूक ?
ओ सजग अरमान !
रहना है तुम्हें तो मूक !
जन्म का सन्तप्त मानस
किसी की मनुहार पाकर !

खोजते किस निठुर को
अब तक रहे उच्छ्वास ?
नित्य पी-पीकर सुधा
बढ़ती गई चिर-प्यास !
वह मधुर स्मृति ही
सदा भरती रही उल्लास,
साधना पुष्पित हुई
पाकर निठुर उपहास !
एक प्रिय की भावना
में ही अखिल ससार पाकर !

युगों का अभिशाप
धुलकर बन गया वरदान,
चिर-रुदन के अधर पर
अब खिल रही मुसकान;
इस प्रणय पर भी मुझे
क्यों हो नहीं अभिमान ?
सफल तो हो ही गया
लघु हृदय का आह्वान !
तव चरण-रज पूजने का
सुनहला अधिकार पाकर !

—ऑक्टोबर, १६३७ ई०

[२८]

मै तुम्हारे पास हूँ!
हार का क्रन्दन नहीं,
मै विजय का उल्लास हूँ!

गूँजती रहती हृदय में
एक स्वर-लहरी निरन्तर;
शुष्क उपवन में सजनि!
बहने लगा है आज निर्झर;
विरह की पीडा कहाँ,
मैं मिलन का विश्वास हूँ!

ले गया हर कौन मेरी
जन्म भर की वेदनाएँ;
हो गई हैं सफल लघु
उर की उमड़ती कामनाएँ;
कोकिला की तान तुम, पर
मैं कहाँ मधुमास हूँ ?

क्रूर जग ने सदा चाहा,
हो हमारे बीच अन्तर,
कुछ न बिगड़ा और हम
तो हो गये प्रिय एक सत्वर;
विश्व हो संघर्षमय,
मैं शान्ति का इतिहास हूँ ।

वाह्य में हम दूर भी हो,
और बन आये निकटतर,
इस तरह से क्या किसी को
मिल गया, जाने नहीं, पर;
क्या किसी की साधना
का मैं नहीं आभास हूँ ?

सदा मुझ सन्तप्त को ढाँके
रहा तव स्नेह अञ्चल;
किन्तु मैं गति-शून्य हो
देखा करी तव चरण केवल;
अब विवशता की कसकती,
मूक सी निश्वास हूँ।

अज्ञ मानव-कृत उपेक्षा,
क्यों न समझी जाय समुचित;
कर रहा जब इन्द्र-धनुषी
व्योम मेरा राग चित्रित;
चराचर के अधर पर
का सिहरता उपहास हूँ!
क्या तुम्हारे पास हूँ?

—१० नवम्बर, १६३७ ई०

[२९]

तुम क्यों प्राणों के प्राण बने ?
थी मूक मुरलिका शुष्क, खिन्न
फिर तुम क्यों स्वर-संधान बने ?
तुम क्यों प्राणो के प्राण बने ?

इस जीवन में निश्वास घुमड
भर-भर जाते थे एक हूक;
मै अपने ही में खोई सी
खोजती रही क्या कौन चूक;
बोलो तो सूनी कुटिया में
कैसे गुपचुप महमान बने ?
तुम क्यों प्राणों के प्राण बने ?

मेरे पग-पग पर यह दुनियाँ
केवल आई काँटे बखेर;

फिर तुम ने ही क्यों बिछा रखीं
कोमल सी कलियाँ ढेर-ढेर
मेरा जी था भोला, अबोध
तुम क्यों आकर अरमान बने ?
तुम क्यों प्राणों के प्राण बने ?

मैं खोज-खोज कर शिथिल, क्लान्त
क्रीडा पहिचान नहीं पाई;
यह आँखमिचौनी भी कैसी
कैसी झकझोर सकपकाई;
तुम रूप और आकार लिए
क्यों साधों का अनुमान बने ?
तुम क्यों प्राणों के प्राण बने ?

तुम में अपनापन भूल-भूल
मैं हो जाऊँ चिर शान्त, मौन;
तुम मुझ में एकाकार हुए
भूलो क्या था, अब कौन कौन;
मेरी श्वासों में दुबक आज
तुम परदेशी अनजान बने ?
तुम क्यों प्राणों के प्राण बने ?

—अप्रेल, १९४० ई०

——— —

[३०]

वह मधुर मिलन की स्तब्ध रात !

तुम थे, तम था, था उर अशान्त,
चिर सजग पिपासा चकित, भ्रान्त,
मैं उमड़-उमड़ लहराती थी;
पुलकित थे तन के सभी प्रान्त;
वह मतवालापन कैसा था, जब
सिहर उठा था सलज गात !
उस मूक मिलन की स्तब्ध रात !

झुरमुट में का झीना प्रकाश;
जब-तब भर जाता था हुलास;
लिखता रहता था प्राणों पर;
घटिकाओं का अविरत विकास;
मेरा आँखों में भर लेना, जब,
तुम कहते थे एक बात!
हाँ वही मिलन की स्तब्ध रात!

चट चटक उठीं सुरभित कलियाँ,
फूलीं वे स्वप्निल रँग-रलियाँ;
था सराबोर प्रत्येक अंग;
औ' पाश बनी थीं अँगुलियाँ;
वह बेसुधि का पागल प्रवाह,
जब बढ़े चले अनजान हाथ!
अब खिले मिलन की स्तब्ध रात!

वह विकल अश्रु का प्रबल वेग;
निश्वासें, हिचकी, सोद्वेग;
निष्प्रभ अधरों की मूक साध
फिर सफल न होगी प्राण! वेग;
पल भर में ही ले आया क्यों
दुर्दैव विरह का कटु प्रभात!
फिर कहाँ मिलन की स्तब्ध रात!

—२८ दिसम्बर, १९३८ ई०

---

[३१]

यह अन्तिम मिलन !

क्षण भर हम-तुम संग थे;

फिर वह तड़पन !

यह अन्तिम मिलन !

सूने हैं दिग्दिगन्त
सूना अन्तर्प्रदेश;
दुस्सह भीषण ज्वाला
फिर वह ही विरह-वेश;
नित्य नया पागलपन
आशा का नहीं लेश;
तुम यदि सुख से रहते
मुझको कब कौन क्लेश;
तुम भी यों विकल,
शेष कौन पथ सजन!
यह अन्तिम मिलन!

मानव तो विवश-व्यथित
जीवन है क्षण-भंगुर;
दो दिन की धूप-छाँह
वैसे कण-कण नश्वर;
किसको अपना समझें
सब ही अतिशय अस्थिर;
जी की कह लें, सुन
लें, इतना अरमान अमर;
पर यह भी तो दुष्कर,
झरें नित नयन!
यह अन्तिम मिलन!

जग ने तो पग-पग पर
रख छोड़े है त्रिशूल;
हम भी तो तत्पर है
सहने को कठिन शूल;
देखें तो कौन शक्ति
जिस पर यों रहे फूल;
करते जाते कब तक
भूलों पर नई भूल;
कैसे भी तो मिट
पावे यह उलझन!
यह अन्तिम मिलन!

रूठा है भाग्य आज
किसको दें वृथा दोष;
क्या प्रेमी दीवाने भी
करते कभी रोष;
पल-पल है पीडामय
साधों का अथक कोष;
जब-जब जैसे भी हों
स्मृति-कण को रखें पोष;
हम जन्मों एक प्राण!
कैसी बिछुडन!
यह अन्तिम मिलन!

—१३ मार्च, १९३८ ई०

[३२]

दर्शन दे जाते एक बार !
युग-युग की अथक प्रतीक्षा पर,
नित नव आशा करती विहार !

मुझको इस तन से मोह नहीं,
जग के जीवों से द्रोह नहीं;
तुमको हूँ ढूँढ-ढूँढ हारी;
पर मिल पाई है टोह नहीं,
वर्षों से पलकें बिछा रखीं,
कब तक बैठूँ पथ ही निहार ?

उनाखी

चिर जन्मों से तव आवाहन;
मैं सतत कर रही जीवन-धन;
जब तब अनुकम्पा होगी ही,
रक्खे बैठी यह आश्वासन!
यह रैन जगेगी ही कब तक?
तुम तक न पहुँच पाई पुकार?

सोचो, कितना संसार विषम,
कैसा, निर्दय, पापी, निर्मम;
मेरी तो गति कुंठित ही है,
तुम भी न कहीं पाओ संभ्रम,
कृश-तन, आकुल-मन मे निष्प्रभ,
प्रिय तुम नन्दन वन के कुमार!

नयनों ने अपनी ही ठानी;
खो चुके अभागे सब पानी;
सहने की भी हो कुछ सीमा;
अब बहुत हो चुकी मनमानी:
आँसू-समुद्र मे डूब रही,
दौड़ो, पहुँचो ए कर्णधार!

मैं आदि काल से कर्महीन,
जो मिलें टके की तीन-तीन;
पर तुम होकर सागर महान्
क्यों विलग किए हो मीन दीन ?
अपने जन को यों बिलखा कर
क्या भोग सकोगे सुख अपार ?

अब मत आओ, रहने ही दो,
मुझको पीडा सहने भी दो;
जिस ज्वाला ने शीतलता दी,
उस में युग-युग बहने ही दो;
अब समय गया, क्या पाओगे ?
दो-चार अस्थि. अवशेष क्षार !

ऐसी भी कहीं हँसी होती,
जब मेरी लघुता हो रोती;
उनकी छाया ही को छूकर
मैं अपनी साधों को खोती;
धो लेने को वह चरण-कमल,
कितनी उत्सुक है अश्रु-धार ?

इक्कासी

तुम हटो दूर मैं बढ़ूँ पास;
चाहे कितना ही मिले त्रास;
यह मीठी पीड़ा मधुर कसक
सुख देती भर कर अश्रु-हास,
यद्यपि मैं-तुम, तुम-मैं होने में,
अधिक नहीं अब देरदार !

मैं जग के अणु-अणु से परिचित,
पर प्रायः सब से परिवंचित,
सर्वस्व लुटा, हूँ मस्त बनी;
बस कुछ आहें. पीड़ा संचित,
इनको मत छीने ले, निष्ठुर,
फिर भटकाएगा द्वार-द्वार ?

अब आना, आकर पछताना;
शव पर दो आँसू ढुलकाना;
मैं तो साधक हूँ दीवानी,
उस जन्म सही, आखिर पाना,
गिन लूँगी सिसक-सिसक कर ही,
जीवन की घड़ियाँ शेष चार !

चातक की कितनी तीव्र चाह
वह कब-कब सहता नहीं दाह ?
बौना शशि को पा ही लेवे—
क्या खेल ? प्रेम की कठिन राह,
अन्तर की प्यास न मिट जाये,
इतनी ही भिक्षा दो उदार !

यदि इसमें ही तुम सुख पाओ,
तो नित्य नया दुख पहुँचाओ;
पर भूले-भटके सुधि लेना;
सर्वथा न मुझको ठुकराओ;
मैं तो चरणों की आराधक,
क्या जानूँ कहते किसे प्यार ?

—१४ अगस्त, १९३६ ई०

— ——

[३२]

तृषित भी हूँ और रिमझिम भी !

हृदय में रह-रह उमड़
उठती किसी की याद;
नयन क्यों धारण किये
हैं उदधि का उन्माद;
व्यथित भी हूँ और तन्मय भी !

देह-कारागार में क्यों
प्राण का सम्मोह;
मैं मिटूँ, हो छिन्न, युग-
युग जात कठिन विछोह;
मूक भी हूँ और बेसुध भी।

साध ही है कौन; पद-रज
हो सकूँ अनजान;
स्पर्श पा पुलकित बनें,
मन-प्राण चिर म्रियमाण,
विपथ भी हूँ और तममय भी।

—मार्च, १६४० ई०

— —

[३४]

यह अन्तर कुसमुसा उठा है
प्राण! आज फिर नीरवता क्यों ?
मेरी मुरझाई श्वासों पर
इतनी बोझिल निर्ममता क्यों ?

क्या मेरी भूलों ने ही यों
तुमको फिर कुछ याद दिलाया !
यह झकझोर कहाँ खिल बैठी,
किसने यह अभिमान जगाया!

जन्म-जन्म से मैं अपराधों की
समाधि हूँ, तुम जानो हो !
फिर रह-रह कर मुझ विपन्न से
ही यह रार-रोष ठानो हो!

पाप ही न होते मुझमें जो तो
फिर तुम "तुम" ही क्यों होते !
कोई प्रतिछाया ही में रम यह
उच्छ्वास न निज दुख खोते !

तुम भी क्या अब ऊब उठे हो
जो यह मिलन-साधना तोड़ी !
या कि आज फिर ठहरेगी ही
तुममें-मुझमें होड़ा-होडी !

सहज उतारू हो बैठे हो,
मूल्य आँकने को भूलों का !
तीखे शूलों को सहला कर
समझ लिया उपवन शूलों का !

मैंने अपना ही क्या समझा
जो कि दण्ड की आज्ञा दोगे !
अच्छा है अपने प्रहार से अपनों
को ही क्षत कर लोगे !

और और 'मैं सह न ·।' रोक
लो, मौन तुम्हारा है चिनगारी !
यह खिलवाड़ भूल जाओगे,
झुलस उठेगी सब फुलवारी !

सन्त्रास

रूठो, रूठो खिंचे रहो जी;
पर इस चुप्पी को तो छोड़ो!
छोड एक अभिशाप भले तुम
महाप्रलय से नाता जोड़ो!

तुम क्या जानो, एक निमिष का
मौन, युगों का अन्धकार है!
किसकी एक दृष्टि पर ही यों
टिका किसी का व्यथा-भार है!

तुम देवत्व लिये हो, तुम पाषाण,
न कभी पसीजोगे तुम।
क्रीड़ा है यह, रुला-रुला कर
हमको प्रियतम! रीझोगे तुम।

सुना न दो अब दण्ड इसी मिस
अपना सघन मौन खोलो!
बहुत हुई मनुहार सलौने!
लो, अब तो बोलो! बोलो।

—१३ अक्टोबर, १६३६ ई०

---

[३५]

ससार सुन्दर है, सजनि !
कौन कह आया कि जीवन
भार है मुझको, सजनि !

शून्यता में गूज उठते आज
प्रिय के मधुर नूपुर;
प्राण में हलचल किया करता
करुण आह्वान का स्वर
आह ! अब तक क्यों न जाना
प्यार किस पर है सजनि

तारकों के मिस हठीले, यह
सजल मुख देखते क्यों ?
मेघ-धारा बन युगों का
ताप मेरा मेटते क्यों ?
व्यस्त बाना बता दे शृंगार
अब क्यों हो सजनि !

अतुल निधि पा मत्त हो, क्या
मूल्य मैंने नहीं आँका ?
विरह-दुखसे चपलतावश क्षितिज
के उस पार झाँका ?
शून्यगति को दरस का अधिकार
कब तक है, सजनि !

हो गये है जन्म से बहते
हुए यह अश्रु पावन;
भर गया री पुलक, मेरे दग्ध
उर में, प्रिय-चिरन्तन,
जो मिलें, मुँह फेर लूँ, मनुहार
कब तक हो सजनि !

— ६ अप्रेल, १९३७ ई०

— — —

[३६]

क्यों न समूची दुनियाँ ही में
आग लगा दूँ मैं पल भर में।
महाप्रलय सा एक बवण्डर
फैला दूँ सूने अम्बर में।

मानव! मानव ही तो मानवता
का भक्षक बन बैठा है।
एक दूसरे का सम्बल नर
ही जब तक्षक बन बैठा है।

दो मुट्ठी आटे में ज्वाला बुझ
जाती है बेबस नर की!
चार हाथ कपडे से ढक जाती
है लज्जा उस जर्जर की!

फिर किन बातों को ले इस जग
में इतना तूफ़ान समाया!
जो कि एक के कुटिल पाश ने
उधर किसी को सहज चबाया!

ईश्वर! ईश्वर!! नहीं, मनुज के
अन्तर की ही सृष्टि मात्र यह!
केवल दुख के अँधियारे
व्यर्थ कल्पना, पुष्टि मात्र यह!

ईश्वर ही दुनियाँ में होता
तो यह अत्याचार न होते!
मानव के अपने भाई के
प्रति, ऐसे व्यवहार न होते!

यह कैसी पशुता जागी है
सिसक रही है जो मानवता!
कब तक ऐसे इठलायेगी
भूमण्डल पर यह बर्बरता!

पाप-पुण्य, का भले-बुरे का, सब
ही भाव खो रहे हैं हम!
स्वर-स्वर में, गायन-वादन में
नो नो अश्रु रो रहे हैं हम!

अत्याचार सहन करना भी,
करने से कम पाप नहीं है।
फिर इस जग की अहम्मन्यता
क्या भीषण अभिशाप नहीं है!

मानव की चिर दानवता का
जब तक कुछ उपचार न होगा।
भाई-भाई का भी जीवन
में यों निश्छल प्यार न होगा।

प्यार! प्यार!! के छद्म आवरण
ही में छिपा हुआ छलबल है।
इसीलिये प्रत्येक श्वास में
अंकित दुस्सह कोलाहल है!

आज तकाज़ा है प्राणों का, हम
इस जग का चिर दुख खो दें।
मरते-मरते भी माँ की छाती
का सारा कल्मष धो दें।

—अप्रेल, १६३६ ई०

———

[३७]

जगत सुख विमुग्ध सजनि !
मैं ही उन्मन उन्मन।

सोया मेरा सुहाग;
झुलस चुका अग राग;
उमड रहा अन्तर में
मधुर मरण का पराग;
मोह, स्नेह, विरति कहाँ
केवल बिछुड़न बिछुड़न।

सूखा री ! अश्रु-नीर
उड़ न चले प्राण-कीर;
इस बेला तो छाए
प्रेम-नगर का समीर,
पहुँच सके उन चरणों में
यह क्रन्दन-क्रन्दन !

मेरी उद्भ्रान्त चाह;
विवश, रुद्ध गति, प्रवाह;
अंकित हैं हृत्तल पर
युग-युग के आत्म-दाह
में बन्दी, श्वास-श्वास पर
यों बन्धन-बन्धन !

—अप्रेल, १९४० ई०

———

अपने इस पागलपन में, जीवन
का दुर्वह भार लिए हूँ!
तिस पर, इन अन्तिम घड़ियों
में भी बिछुड़ा सा प्यार लिए हूँ!

यह भय्या इतना कठोर हो
जावे कहे 'चपलता छोड़ो'
क्यों न इसी बेसुरी रागिनी
ही से तुम अपना मुख मोड़ो!

क्यों बहलाती, युग-युग बीते
अखिल विश्व की थाह पा चुका!
हठ छोड़ो, यों व्यर्थ न भटको
मैं तो अपनी राह आ चुका!

समझ-बूझ मत करो बहाना
मन का मोह नहीं मानेगा!
सच कहता हूँ, यदि मैं पलटा
अन्तर महा द्रोह ठानेगा!

मेरी गाथा मधुर हास्य में
हाय! आज आँसू ले आई!
रोली कहाँ, न लाई अक्षत
कैसे दोगी मुझे बिदाई!

कुछ तो भूल तुम्हारी भी थी
मानो या अनजान बन रहो !
नित्य नए बन्धन में जकड़े गई
न रक्खा ध्यान, अब सहो !

भाग्यहीन मैं लाज न रख पाया.
अब तो कण-कण रोता है।
केवल पश्चाताप भरा खारा जल
यह कलंक धोता है।

धाँय-धाँय यह महानाश सी
ज्वाला जला करेगी प्रतिदिन !
शब्द नहीं हैं, कण्ठ रुद्ध, हृत्तन्त्री
भी खो बैठी गुञ्जन !

हर्ष-शोक विस्मृत कर बाँधो
एक और रक्षा का बन्धन !
इस मंगल-वेला में बहिना !
आओ हम भूलें अपनापन !

— अगस्त, १६३६ ई

[३९]

कहाँ मेरे अधरों पर हास?
आज कदाचित् प्रिय-सुधि ले
आई होगी मधुमास!

मधुर स्वप्न बन इन नयनों में
क्यों वे सजनि! समाए?
सजल मेघ का व्यर्थ आवरण,
घुमड़-घुमड़ वे आए!
मैं कह, उठती तुम्हीं छिपे हो,
जल में, थल में, नभ में!
प्रतिबिम्बित होते रहते हो
पृथ्वी के कण-कण में!
जग कहता है दूर, किन्तु
वे मेरे कितने पास!

मैं पगली खोजा करती हूँ,
वे दिख-दिख छिप जाते।
कितने चचल, कितने नटखट,
क्यों यों खेल खिलाते?
हँसी उन्हें तो हो जाती है,
मुझको आता रोना।
ना भटकूँगी अब जीवन भर,
हो ले जो हो होना!
कब तक रहने दूँ लघु उर को
निर्मम का अधिवास?

चिलखाना था यदि ऐसे ही,
तब क्यों प्रेम दिखाया?
स्नेह-शून्य दीपक को छूकर
क्यों प्रकाश बरसाया?
मुझमे क्या था, किन्तु न क्या-
क्या कह री। उनसे पाया?
पर न अभी तक समझ सकी हूँ
उस मोहक की माया।
वे निष्ठुर क्या समझ
सकेंगे मेरे-चिर-उच्छ्वास?

अब भोले बन क्या कहते हैं,
यह झंझट है सारा!
मैं ही उनके उन्नत पथ को
बनी हुई हूँ कारा!!
पोंछ आँसुओं को, कह देती
जाओ, यदि सुख पाओ!
किन्तु तनिक उमड़ा अन्तस्तल
ठुकराते ही जाओ!
आज पराजय ही में
म पा लूँगी विजयोल्लास!

किन्तु नहीं, उनको दुख होगा,
मुझको कहाँ उलहना?
प्रेम-नगर के राही को कब
क्या कहना, सब सहना!
प्यास न जाने, प्राणों में
रह वे कैसे अभिमानी?
जीवन भर पहिचान न पाये
इन नयनों का पानी!
उनको अपना कह पाऊँ,
क्या मुझको जग-उपहास?

—१७ मई, १९३७ ई०

[४०]

प्यार लेकर क्या करूँगा ?
मैं अभागा स्वर्ग का
ससार लेकर क्या करूँगा ?

जन्म बीता, मैं कभी कर्तव्य
क्या है, नहीं जाना !
परिस्थिति-वैषम्य का ही
सदा करता था बहाना !
आज कल करते हुए, अवसान-
वेला आ गई यों;
युगों से रूठे हुए को आ
रहा है अब मनाना !
निराश्रित मैं, किसी की
मनुहार लेकर क्या करूँगा ?

क्या बताऊँ भग्न अन्तर
में धधकती कौन ज्वाला ?
चिर विरागी ने उमड़ते
प्रणय का अरमान पाला !
क्यों मुझे मधुमास भी
पतझार होकर त्रास देता ?
अब न मेरे तृषित अधरों से
लगाओ मधुर हाला ?
इस समय, मैं सबल भी,
आधार लेकर क्या करूँगा ?

कौन समझे, किन व्यथाओं
से भरी मेरी कहानी !
युग हुए पर मिल नहीं पाई
कहीं प्रिय की निशानी !
व्यर्थ उजड़े हृदय का
उन्माद कोई क्यों सँभाले ?
अन्त तक अरमान नीरव ही
रहें, हो मूक वाणी !
मैं तपस्वी, आँसुओं का
भार लेकर क्या करूँगा ?

जगत भ्रम में ही रहे, यह
मर्म भी अविदित रहेगा।
कौन किसकी जानता, कोई
किसी से क्यों कहेगा?
नियति के हाथों बिका नर
हाय! कितना विवश ठहरा?
वेदना, सन्ताप, दाहक,
क्लेश सब कुछ ही सहेगा!
चिर उपेक्षित, आज यह
उपहार लेकर क्या करूँगा?

—२१ दिसम्बर, १९३७ ई०

———

[४१]

क्यों पूँछ रही हो फिर-
फिर वही कहानी !
जिसको सुन भर
आता नयनों में पानी ।

कब कौन समझ पाया
है मेरी चाहें;
क्यों कोई नापे
भग्न हृदय की आहें;
लो, शूल बिछे हैं,
घिरी हुई सब राहें;
तुमने ही कब पागल
पीड़ा पहचानी ?
जो आज पूछती हो
यह करुण कहानी ।

जग क्यों दुखार्द्र हो,
मुझे कभी समझावे;
वह क्यो चिन्तित हो,
नाहक अश्रु बहावे;
क्यों व्यर्थ किसी को
शीतल छाँह दिखावे;
फिर मैं ठहरा निज
लघुता का अभिमानी !
अब रहने भी दो
यह दुखभरी कहानी !

तुम अब सपनों का
जाल बनाना छोड़ो;
ममता-बन्धन को
तिनके का-सा तोड़ो;
अपनी श्वासें तो
प्रफुल्लता से जोड़ो;
यों बहुत-बहुत
पछताओगी दीवानी !
जाने दो, यह ज्वाला
की एक कहानी !

मैं खोया सा औ'
ये मानव की घातें;
फिर होगा भी क्या
कह-सुन कर वे बातें;
खिल उठतीं सुधि में
मधुर मिलन की रातें;
मैं सिसक उठा, तुमने
की थी अगवानी।
बस इतनी ही तो
मेरी प्रणय-कहानी।

—८ जून, १९३८ ई०

———

[४२]

तुम किसी के मूक अन्तर-
की व्यथा पहिचान लेती!

क्या हुआ जो मैं तुम्हारे-
सामने हूँ नित्य प्रमुदित;-
सुरभि-भीनी मलय की-
वातास कर जाती सुरञ्जित;-

कौनसी है हूक, किन
चिनगारियों में चिर निमज्जित;
समझ जातीं सहज ही, क्षण
भर अगर हठ ठान लेतीं !

यह कठिन सन्ताप, जीवन भर
तुम्हीं कह दो सहूँ क्या;
तुम कहाँ ? मैं इस तरह
निष्प्राण-एकाकी रहूँ क्या;
टाल देती हो चपलता वश,
कहाँ तक मैं कहूँ क्या;
नियति से केवल मिलन का
ही मधुर वरदान लेतीं !

इन थकी सी पुतलियों में
कौन से अरमान तिरते;
कामना-घन, उर-गगन,
में प्रात-साय व्यर्थ घिरते;
कल्पना-पट पर सलोने
स्वप्न रह-रह कर सिहरते,
देखतीं उन्माद तो कहना
न मेरा मान लेतीं ?

चूमने को जा रही है
आज मेरी ज्वाल, अम्बर;
घुमडता रहता वही
आभास प्राणों मे निरन्तर;
मुझे लहरों में समाना है
न रोको सजनि। तट पर;
'अब' नहीं 'तब' मिलेंगे
सन्देश इतना जान लेती।

—१ मई, १९३८ ई०

———

[४३]

प्रीति कैसी, प्यार क्या ?
एक ही स्वर ध्वनित
प्राणों में सजग झंकार सा !
प्रीति कैसी, प्यार क्या ?

क्यों कहें जग, मै गई पथ भूल;
जबकि जाना ही न क्या हैं शूल;
विवश उर की चिर उमडती साध
समझ ही पाती न, क्या प्रतिकूल;
जो बना आधार मेरा,
हो भले अविचार सा।
प्रीति कैसी, प्यार क्या ?

मानती हूँ, है अटल उन्माद,
किन्तु मेरा कौन सा अपराध,
है यही अवशिष्ट उलझन आज,
श्वास देती नित्य क्या सम्वाद,
कल्पना-जग में खिला री।
सुधाकर मनुहार का !
प्रीति कैसी, प्यार क्या ?

अभी भी कुचले पडे अरमान,
यह कसक कब तक रहे अनजान,
मैं न सह सकती विरह का ज्वार
व्यर्थ क्यों स्थित रहे व्यवधान;
सदा मूर्च्छित ही रहे इस
बीन का यह तार क्या ?
प्रीति कैसी, प्यार क्या ?

मिल गये जो दो हृदय अज्ञात,
काट ली हँसकर अँधेरी रात,
क्यों बने सन्तप्त कोई भी कहो
औ' चलाए, घात-प्रत्याघात,
मानवों की आत्मा का
कुछ नहीं अधिकार क्या?
प्रीति कैसी, प्यार क्या?

—२३ सितम्बर, १६३८ ई०

———

[४४]

आँसुओं ही में पली हूँ.
मिलन का तो वर न लूँगी।

जन्म भर जलती रही हूँ।
मैं सदा ढलती रही हूँ!
सजन के भोले हृदय को
नित्य ही छलती रही हूँ।
अब न रोका जायगा
उद्वेग, मैं सम्मुख बहूँगी!

हो गई है चूक मेरी,
आज वाणी मूक मेरी;
कौन जाने क्या सँदेशा
दे रही है हूक मेरी!
आह मेरी मूक है फिर
किस तरह उनसे कहूँगी!

मै विरह से क्लान्त अतिशय
क्यों रहे अवशिष्ट परिचय,
मुझे मिटना है, पथिक
को कौन बाधा, व्यर्थ सशय,
मृत्यु को जीवन बना कर,
तारिकाओं में रमूँगी!

—१० मई, १६३६ ई०

———

[४५]

सजनि कैसे दीप बालूँ ?
मैं व्यथित किस आवरण में
यह करुण क्रन्दन छिपा लूँ ?

छा रहा है अमा का नैराश्य
मेरे प्राण में नित,
फिर कहाँ से खोज सकती
हूँ उजाला चिर अपरिचित;
भग्न अन्तर में कहाँ तक;
मिलन का अरमान पालूँ ?

जग लिये है, जगमगाहट
उर निरन्तर मूक रोदन;
मैं विरागिनि, पर अमर है
प्राणप्रिय का स्नेह-बन्धन;
विरह ज्वाला को उमडते
आँसुओं से ही बुझा लूँ ?

कहाँ है री! स्नेह, पाई
आज तक मैने न बाती,
दुसह जीवन, सजन की
सौंपी हुई दुर्लंघ्य थाती;
किस तरह फिर प्रणय का
उद्वेग आली! मैं सँभालूँ ?

जगत के आलोक में यह हूक
क्यों अस्तित्व खो दे;
युगों का सन्तप्त मानस,
मिलन की आशा सँजो ले;
क्यों न वे रक्ताभ पद
इन तृषित अधरों से सटा लूँ ?
सजनि! कैसे दीप बालूँ ?

—७ ऑक्टोबर, १९३८ ई०

———

[४६]

भाव मेरे मूक हैं,
अरमान सोए, स्वप्न मूर्छित;
दग्ध अन्तस्तल, सिहरते
प्राण बेसुध, चाह अविदित;
बहिन! जब सूना हृदय है
किस तरह राखी बँधाऊँ?

कहाँ तेरे स्निग्ध उर
की लहलहाती कामनाएँ;
और मेरे व्यथित जीवन
की उमड़ती कटु कथाएँ,
व्यर्थ अपनी वेदना से
क्यों तुझे चिन्तित बनाऊँ!

पूर्ण हो पाया न मुझसे
एक भी कर्तव्य आखिर
किस तरह ऋण सुभग धागों
का चुकाया जायगा फिर,
तप्त मानस की तड़पती
रागिनी किसको सुनाऊँ!

भूल ही जाना दुसह
मुझ मूढ़ के अपराध सारे;
कुछ न लाया, हाँ छलकते
नयन में दो अश्रु खारे,
आर्द्र कर कुंकुम, उठा
अक्षत कि मैं मस्तक नमाऊँ!

—६ अगस्त, १६३८ ई०

———

[४७]

ओ स्वप्निल दुनियाँ के प्रहरी !
ठहरो कहाँ लिये जाते हो,
खूब दिल्लगी ठहरी।
ओ स्वप्निल दुनियाँ के प्रहरी !

नयन मुँदे, दुख-सुख सो जाए;
राग, क्लेश, चिन्ता खो जाए;
तम का मुख प्रकाश धो जाए;
तुम जैसे कुंडी खड़का कर
छीनो निंदिया गहरी।
ओ स्वप्निल दुनियाँ के प्रहरी !

चौंका दे अनजान विस्फुरण;
भूला सा, खिल उठे समर्पण;
बहकाए पद-रज-आकर्षण;
मिलन, विरह को बना, फूँक
दी यह कैसी स्वर-लहरी !
ओ स्वप्निल दुनियाँ के प्रहरी !

पुलकित, मदमाती, अभिसिञ्चित;
कुछ-कुछ विस्मित कुछ-कुछ चिन्तित;
मै अपने को स्वय अपरिचित;
जागृति टकराहट सी आकर
बोली "सह री ! सह री !!"
ओ स्वप्निल दुनियाँ के प्रहरी !

—अप्रैल, १६३६ ई०

— ——

क्षण भर को भी स्मृति-बन्धन
से दूर नहीं हो पाता !

अपने बेगानों से
नाता तोड चुका हूँ;
सुख-दुख से मैं एक साथ
मुँह मोड़ चुका हूँ;
एक राह ही जाना
मुझे निरन्तर;
जग के वैभव इसीलिए
तो छोड़ चुका हूँ;
घुमड-घुमड़ कर प्राणों ही
में मेरा दुख रह जाता !

आहें-उच्छ्वासों में, मै निशि-
दिन बहता हूँ;
अपने उर का ज्वार
किसी से कब कहता हूँ;
सींच-सींच कर आँसू
से यह ज्वाला,
नित्य नया दुख सिसक-
सिसक चुपचुप सहता हूँ;
किसी तरह अब एक घड़ी
भी जीना मुझे न भाता।

भावुकता का वेग
बुलाने को तत्पर है;
सुख की आशा दुखद
स्वप्न सी चिर नश्वर है,
एक उचाट छीन
बैठी है सब गति,
किसी ठौर भी शान्ति
नहीं मुझको पल भर है;
मैं मिलनातुर पथिक आज
पग-पग पर अश्रु बहाता!

एक अतृप्ति मुझे क्यों
बन्दी बना गई है,
एक कसक जीवन में
चुभ-चुभ समा रही है;
मुझ सा बेबस
और न कोई होगा,
साँसों की गति और
वेदना बढ़ा रही है,
स्नेहहीन वर्तिका जले कब
तक, मैं दीप बुझाता!

—मार्च, १६३६ ई०

---

[४९]

तव चरण-रज आज पाकर
क्या न अपना मान भूलूँ ?

युगों से बैठी बिछाये
मृदु पलक तेरी डगर में,
किन्तु तू आने लगा क्यों;
मुझ अभागिनि के नगर में;
हाथ में अब आ सका है,
क्यों न दो क्षण साथ झूलूँ ?

किस घड़ी से ओ सलोने !
तड़पती है साधना यह ?
कौन कब समझा, कहो,
लघु हृदय की आराधना यह ?
शुष्क होकर भी तुम्हारे
मिलन पर कैसे न फूलूँ !

दूर हट संकोच, तू क्यों
आज बाधक हो रहा है ?
प्रणय का सन्देश ओठों में
उलझ कर सो रहा है;
क्यों न इस सुख-स्वप्न में, सुधि
भूल, प्रिय के चरण छू लूँ ?

—दिसम्बर, १६३६ ई०

———

[५०]

आज विस्मरण ही मेरे पागल
प्राणों का प्यार बन सके !

स्मृति-मन्दिर में सतत
जला मैं, दीप शिखा-सा,
समझ सका कब जगत,
मर्म इस मूक व्यथा का;
यह मादक उन्माद, विमूर्च्छित
जीवन का आधार बन सके !

मैं खोजूँ, वे दुबकें
अच्छी आँखमिचौनी;
मिल-मिल, बिछुड़-बिछुड़
जाए वह मूर्ति सलोनी;
यह एकाकी मौन, एक पल
मेरा ही अभिसार बन सके!

मैंने ही क्यों इन
नयनों में सपना पाला,
उभर उठी अन्तर में,
मीठी-मीठी ज्वाला;
मेरे जी का बाँध, आज मुझ
को ही कारागार बन सके!

भूल सकूँगा, भूल-भूल
कर, भूलों के जग;
उफन पड़ेगा अलसाया
अतीत तो, पग-पग;
मेरी दुस्सह हूक क्यों न अब
सावन की सी धार बन सके!

रह-रह कोई, उझक-
उझक उठता है उर में,
इस रुनझुन में कौन,
कौन इस अस्फुट स्वर में?
मेरी बोझिल देह आज यों
आहों का ससार बन सके!

कब किसने जाना इन
पलकों का कौतूहल
निश्वासों में छिपी हुई
है बेसुध हलचल,
उनकी निष्ठुर याद मचलते
मानस को मनुहार बन सके!

कैसी पग-ध्वनि, कोई
हौले-हौले आता;
अमर वेदना में नाहक
धड़कन भर जाता,
दुखमय सुख, सुखमय दुख, मेरी
साधों का व्यापार बन सके!

अंकित हैं कुछ रूठे-
रीझे अन्तस्तल पर,
एक कामना, एक चाह
कर बैठी है घर,
इन धुँधली रेखाओं में मेरा
प्रियतम साकार बन सके।

—मई, १६३६ ई०

— — —

[५१]

नित्य नया उन्माद जहाँ हो
वहाँ शान्ति का क्या अभिनन्दन ?
मर मिटने की साध जग उठे
पुनः भ्रान्ति को क्या प्रोत्साहन ?
उड़ती श्वासों में चिनगारी
व्यर्थ ताप का क्यों हो चिन्तन ?
पुतली में प्रति पल क्रीडा करने
वाले प्रिय का क्या दर्शन ?
मैं दीवानी कैसे समझूँ
कितनी राह और चलना है ?

गति डगमग है, हृदय शून्य सा,
मूढ़ स्तब्ध मैं, फिर निर्जन पथ;
पहुँच छोर तक, ज्योंही छूने बढ़ूँ
कि 'इति' बन जाता है 'अथ'
यह कैसी माया-विडम्बना,
कहाँ विलीन हो गया वह रथ;
गोधूली - बेला हो आई
आस भरे पगद्वय हैं श्रम-श्लथ;
मिलन-विरह, सुख-दुख, प्रकाश-तम,
मुझको तो सब ही छलना है !

प्राणों में तूफान, नेत्र में
उमडा सा पड़ता है निर्झर;
इस जीवन में किसी तरह क्या
दूर न हो पायेगा अन्तर;
वे ही मूक बन रहे हैं या
नहीं पहुँच पाता मेरा स्वर;
नहीं—मै न इन बातों में
उलझूँगी मुझे पहुँचना सत्वर;
प्रेम-पथ के राही को तो
तिल-तिल करके ही जलना है !

तिस पर निष्ठुर जग ने पग-पग
पर काँटे रख छोड़े आली;
इधर रात्रि की नीरव घड़ियाँ
उधर घटा घिर आई काली;
मुझे खींचती है पल-पल पर
उन चरणों की मादक लाली;
पर क्यों मुरझाई जाती है
उर-उपवन की डाली-डाली;
व्यग्र बन रही हैं क्यों साधें
जब आँसू पी-पी पलना है!

—२६ जून १६३८ ई०

———